

'हुड़किया बौल': हिमालयी भूभाग कुमाऊँ की विवर्ण होती लोक परम्परा

रीतेश साह¹

¹सहायक निदेशक, यूजीसी—मानव संसाधन विकास केन्द्र, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड, भारत

ABSTRACT

हिमालयी राज्य उत्तराखण्ड के कुमाऊँ की भूमि में विभिन्न देवी—देवताओं की पूजा अर्चना व प्रत्येक शुभ कार्य गीत—संगीत से गहनता से जुड़ा है। 'हुड़किया बौल' कुमाऊँ का एक ऐसा ही परम्परागत सामूहिक कृषि श्रम महोत्सव है। यह कृषि कार्य करने की एक पद्धति है और यहाँ की संस्कृति का प्रमुख अंग रही जो कि पर्यावरण व पारिस्थितिकी से महत्वपूर्ण रूप से गुर्दी हुई है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह संस्कृति व परम्परा लुप्त होती जा रही है। इस लोक संस्कृति के लुप्त होने के कारणों के पीछे कुमाऊँनी ग्रामीण परिवृत्ति का बदलना मुख्य मुख्य कारण है साथ ही अन्य भी कारण है जिसकी विवेचना इस शोध पत्र में की जा रही है। प्रारम्भ में जिस कुमाऊँनी समाज का मुख्य व्यवसाय कृषि या पशुपालन था वह स्थितियाँ अब नहीं हैं। लोक संस्कृति सामूहिक जीवन की एक अभिव्यक्ति है परन्तु अब इस सामूहिकता को व्यक्तिवादी विचारधारा ने नष्ट कर दिया है। पूर्व में यह लोक संस्कृति स्थानीय समाज के मनोरंजन का साधन भी थी परन्तु आज मनोरंजन के साधन भी समय के अनुसार बदल चुके हैं और पुराने साधन इतिहास का अंग बने चुके हैं। अब इस लोक परम्परा का चलन कम होता जा रहा है यदि कहीं कोई आयोजन किया जा रहा है तो मात्र रस्म अदायगी के लिए। लोक उत्सवों के प्रति आधुनिक समाज की रुचि घटते जा रही है जिस कारण लोक अभिव्यक्ति के अवसर भी कम होते जा रहे हैं। सामुदायिक दृष्टिकोण को छोड़ देने के कारण भी अधिकांश परम्परागत व्यवस्थायें समाप्त हो रही हैं। कृषि, वन व जल सम्पदा उत्तराखण्ड की अमूल्य धरोहर है। इनका परम्परागत सहसम्बन्ध टूटने से परम्परा व संस्कृति के लुप्त होने की पीड़ा अत्यधिक बढ़ती जा रही है। हुड़किया बौल परम्परा भी अब धीरे—धीरे समाप्ति की कगार पर है।

KEYWORDS: हुड़किया बौल, परम्परा, संस्कृति, कृषि, लोक

भारतीय दर्शन की मान्यता रही है कि सम्पूर्ण प्रकृति में दैवत्व प्राणधारा का स्पन्दन है और मानव व प्रकृति के बीच पूर्ण तादात्म्य और तारतम्य। पूर्व में मनुष्य की आवश्यकताएं सीमित थीं, प्रकृति के शोषण की बात वह नहीं सोच सकता था। प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ही जीवन का मर्म था। समय के गति के साथ—साथ शहरीकरण और औद्योगिकरण के चलते मनुष्य का प्रकृति से तारतम्य टूटता गया और विकास की तेज दौड़ में उसकी यह अनुभूति समाप्त हो गई कि प्रकृति भी एक जीवन्त शक्ति है। कुमाऊँ के ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि ही आजीविका का मुख्य स्रोत है, अतः आगे सदियों तक क्षेत्रीय समुदायों द्वारा जल संग्रहण की तकनीक विकसित होती रहीं। उस समय इस क्षेत्र की भौगोलिक और पारिस्थितिकी स्थिति ऐसी थी कि उनके सामने सिर्फ एक ही विकल्प था कि या तो वे वर्षा की एक—एक बूंद को सहेजकर रखें या फिर अपनी जान गवाएं। इसके परिणामस्वरूप पानी के संरक्षण के अनेकों गम्भीर उपाय किये गये, जो आगे और विकसित होते रहे। इस प्रयास से क्षेत्र को पानी और खेती की एक बड़ी विरासत मिली। उस काल में मानव और प्रकृति तथा मानव और मानव के बीच के रिश्तों से ही संस्कृति फली—फूली। भविष्य में इस अनुभव से उनकी जीवन शैली भी विकसित हुई। इसी विरासत में हुड़किया बौल को सम्मिलित किया जाता है। सामान्य रूप से 'हुड़किया बौल' कुमाऊँ का वह सामूहिक 'कृषि श्रम महोत्सव' है जो पर्यावरण व कृषि, श्रम गीत व विश्व लोक साहित्य का अभिन्न अंग है। इसमें गाये जाने वाले कृषि गीतों को श्रम गीतों का हिस्सा भी कह सकते हैं। इन

श्रम गीतों को लोक अध्येताओं ने 'एकसन सौंग' का नाम भी दिया है। शारीरिक श्रम की शक्ति को द्विगुणित करने में श्रम गीत बहुत उपयोगी रहे हैं, परन्तु कुमाऊँ में प्रचलित 'हुड़किया बौल' में इन विशेषताओं के अतिरिक्त भी बहुत कुछ पाया जाता है। (पाण्डे, त्रिलोचन, 1977: 213)

'हुड़किया बौल' कुमाऊँ के सिंचित एवं उर्वर घाटियों में लगता है। जैसे— गेवाड़ घाटी गनाई (चखुटिया), कत्यूर घाटी—गरुड़, बैजनाथ, बौराँ घाटी— चनौदा, सोमेश्वर, कैड़राँ आदि क्षेत्र। कुमाऊँ हिमालय के इन क्षेत्रों में सिंचाई एक कठिन कार्य है इसके लिए धन, श्रम, धैर्य के अलावा स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल अभियांत्रिकी कौशल की आवश्यकता होती है। इस क्षेत्र में जल ऊर्जा उपयोग की प्राचीन परम्परा मौजूद है। यद्यपि ब्रिटिश शासन से पूर्व कुल जोत भूमि का बहुत छोटा हिस्सा ही सिंचित श्रेणी में आता था, लेकिन जहाँ कहीं सम्भव था सिंचाई की व्यवस्था की जाती थी। हिमालय के इस भाग के निवासियों ने अपने परिवेश व परिस्थिति के अनुकूल सिंचाई की अनेक स्वदेशी/स्थानीय विधियों का विकास किया है।

एच.जी. वाल्टन ने दि हिमालयन गजेटियर (1911) में यह लिखा है कि अल्मोड़ा में 'पानी की आपूर्ति ऐसी लम्बी नालियों से की जाती है जो पहाड़ों में काट—छाटकर बनाई गई हैं या जरूरत पड़ने पर पहाड़ी धाराओं के पानी को खेतों की तरफ मोड़ दिया गया है, यहाँ स्रोतों का भी इस्तेमाल किया जाता है। (अग्रवाल, अनिल,

सुनीता नारायण, 1998: 48–49) यह स्थिति आज भी खेती ही बनी हुई है। लेकिन पहले यहां सुस्पष्ट जल अधिकार थे और सिर्फ अतिरिक्त जल अथवा लौटते बहाव से ही लोग पानी ले सकते थे।

गधेरे या गाड़ के पानी को रोककर बनाया गया बांध पहाड़ी भाषा में बान या बांध (डैम) कहलाता है। खेतों में आने पर जब उस बांध से निकली नहर से सिंचाई की जाती है तो वह 'गूल' या कूल कहलाती है। कुल्याना का अर्थ है खेत में कूल (गूल) डालना। कुल्या से भी छोटी नहर बौल कहलाती है। कभी बौल से भी खेत में पानी नहीं चढ़ता तो बौल से दो—तीन छोटी नहरें निकाली जाती हैं। ऐसी नहरों को पहाड़ी में हवर कहते हैं। (वैष्णव, यमुना दत्त अशोक, 1994: 177)

'गूल' नहर का लघु रूप है। नदी—नालों में छोटे—छोटे बंध बांध कर गूल (छोटी नहर) के जरिये खेतों तक पानी लाया जाता है। गूलों को पुनः विभाजित कर छोटी—छोटी नालियों द्वारा पूरे खेत में पहुंचाया जाता है, इन्हें 'कूल' कहा जाता है। एटकिसन ने हिमालयी क्षेत्रों के विषय में लिखा है—‘यहां सिंचाई भी की जाती है और नदी के जल को गूल के जरिए या गधेरे व धाराओं के पानी को एकत्र कर खेतों तक पहुंचाया जाता है। जिन स्थानों पर खड़ी चट्टान मिलती है तथा पानी न रिसे इसके लिए गूल में मिट्टी थापी जाती है’। कर्नल फिशर ने सन् 1883 में लिखा है—सिंचाई के बारे में जागरूकता सन् 1877–78 के अकाल से आई। इसके बाद उन सब जगहों पर धीरे—धीरे सिंचाई की सुविधा जुटाई जाने लगी जहां यह सम्भव और लाभकारी थी। (एटकिसन, एडविन टी: 1998) कई बार गूल के मार्ग में कठिन चट्टान आ जाने पर पानी आगे बढ़ाने के लिए केले के वृक्ष की छाल अथवा लकड़ी के पतनालों का भी प्रयोग किया जाता है।

यदि खेत में किसी पहाड़ी नदी की गूल से पानी आ रहा है तो ग्रामीण कहेगा कि वह खेत को 'कुल्या' रहा है। इस 'कुल्या' की प्राचीनता के लिए कण्ठ ऋषि के आश्रम का कालिदास वर्णित विवरण है कि—‘कुल्यांभोमि पवन चपलैः शखिनों धीतमूला।’ (वैष्णव, यमुना दत्त अशोक, 1994: 169) (कुल्या भूमि में शीतल हवा मधुर प्रतीत हो रही है।)

बड़ी नदियों से नहरें निकालना सम्भव नहीं होता, क्योंकि ये बहुत गहरी घाटियों में बहती है और वर्षा और सूखे के दिनों में इनके महत्तम व न्यूनतम जल स्तर में बहुत अंतर होता है। छोटी नदियों, नालों तथा सदाबहार जल स्रोतों से गूलों निकाली जाती हैं। नदियों को बांध कर गूल निकालने की कला सर्वथा कठिन काम है। पहले तो बांध का स्थान निर्धारण करना आसान नहीं है। इसके लिए ध्यान रखा जाता है कि अधिक से अधिक क्षेत्र में सिंचाई की जा सके तथा पानी की मात्रा भी सर्वधिक हो और ग्रीष्म काल में पानी का तल बहुत नीचे न जाए। गूल का ढाल इस प्रकार हो कि इससे कम से कम जल रिसाव हो। यह तभी सम्भव है जब बांध और गूल निकलने के स्थान का सही चुनाव किया गया हो। प्रतिवर्ष बांध वर्षा ऋतु की बाढ़ में बह जाते हैं और नहरें ऊँची हो जाती हैं इसलिए

और अधिक ऊँचाई पर बांध पुनः बनाये जाते हैं। (पाण्डे, जनक (सं) 2002: 248)

ऊँचाई वाले स्थानों पर वर्षा जल संग्रहण की समृद्ध परम्परा रही है। किसी उचित स्थान पर पूरी पहाड़ी पर बरसने वाले पानी को एक पोखर बना कर एकत्र कर लिया जाता है, इस ढांचे को खाल कहा जाता है। इसके अतिरिक्त गूलों के पानी को, विशेष रूप से जब उनमें पानी का बहाव इतना कम हो जाता है कि खेतों तक पहुंचने से पहले ही रिस जाय तो भी खाल तक पहुंचाया जाता है। इस पानी से धीरे—धीरे जब खाल भर जाती है, तब एकत्रित पानी को तेजी से खेतों की ओर छोड़ते हैं। खाल का प्रयोग सिंचाई के अतिरिक्त जानवरों को पानी पिलाने के लिए भी किया जाता है। ऊँचाई पर खाल होने से नीचे के ढलानों पर मौजूद नौले व धारों के जल स्तर में भी गिरावट नहीं आती। किसी समय इस क्षेत्र में खाल की परम्परा इतनी समृद्ध थी कि कई गांवों/कस्बों का नाम वहां मौजूद खाल से जुड़ गया जैसे— धिंधारीखाल, घोड़ाखाल, मौलीखाल आदि। वर्षा जल संचय की यह समृद्ध परम्परा आज सर्वाधिक उपेक्षा की शिकार है और लगभग लुप्तप्राय है।

कुमाऊं के पर्वतीय प्रभागों में पर्वतों के ऊपरी भाग में खाल का निर्माण एकत्रित वर्षा जल से प्राकृतिक जल स्रोतों की पुर्नजल सम्भरण (रिचार्जिंग) की स्वदेशी तकनीक का अनुपम उदाहरण है। इसके रिसाव होने वाले जल से प्राकृतिक जल स्रोत, नौले व धारों में जल की निरन्तर आपूर्ति होते रहती है। एक अन्य संरचना ढाँचे में छोटे—बड़े नालों को बांधकर ताल का रूप दिया जाता है। यह पशुओं, विशेष रूप से गाय—भैंसों के नहाने का स्थान भी होता है। इससे गूल निकाल कर सिंचाई की जाती थी। इस परम्परा में भी अब तेजी से कमी आ रही है।

सिमार एक प्राकृतिक अवस्था है, मानव निर्मित नहीं। यह खेतों के बीच एक तरह का दलदल है जो किसी प्राकृतिक स्रोत की उपस्थिति के कारण बन जाता है। लेकिन पर्वतीय समाज में ऐसी भूमि की उपस्थिति कृषि व जल प्रबन्ध का हिस्सा बन गई। सिमार में पानी की अधिकता के अनुकूल फसलों को बोने की परम्परा रही है। आमतौर पर इसमें वर्ष में एक फसल ली जाती है। सिमार में बासमती जैसी अच्छी प्रजाति के धान उगाने की परम्परा है।

कृषि, जल व वनों के बीच निकटवर्ती सम्बन्ध हैं, इनकी अभिवृद्धि एक दूसरे में अन्तर्निहित हैं। सामुदायिक दृष्टिकोण को छोड़ देने के कारण जहां अधिकांश परम्परागत जल व्यवस्थायें क्षतिग्रस्त होकर समाप्त हो रही हैं वही वन क्षेत्रों में आई कमी ने विगत दशकों में कई बार सूखे की गम्भीर समस्या को उत्पन्न कर दिया है। वन लोगों के जीवन का आधार है, वन आमदनी का साधन है, वनों से कृषि को लाभ होता है, पानी की रक्षा होती है, वन के कारण जल, जमीन, मानव एवं पशु का एक जीवनदायी संतुलन बना रहता है। जिस प्रकार वन मनुष्य के लिये आवश्यक है उसी प्रकार जल स्रोतों में अस्तित्व को बनाये रखने के लिये भी वनों का होना अनिवार्य है। वन क्षेत्रों में आई गम्भीर गिरावट ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। इसका सबसे अधिक प्रभाव जल स्रोतों व कृषि

पर पड़ा हैं विगत दशकों से लगातार यह अनुभव किया जाता रहा है कि पर्वतीय क्षेत्रों में जल स्रोत सूखते जा रहे हैं नदियों का जलस्तर कम होते जा रहा है। सूखे के कारण स्थानीय निवासियों को पेयजल के लिये मीलों दूर जाना पड़ता है। वनों के क्षेत्रफल में आई कमी के परिणाम जहां एक ओर सूखे की समस्या उत्पन्न हुई वहीं दूसरी ओर कई स्थानों पर अतिवृष्टि के कारण लोगों को जान माल की गम्भीर क्षति का सामना करना पड़ा। वन व जल के बीच पारिस्थितिकी व पर्यावरणीय असंतुलन का सर्वाधिक प्रभाव, कृषि व उससे जुड़ी परिस्थिति व परम्पराओं पर पड़ा है।

पर्वतीय भूभाग में विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा, परम्पराओं व संस्कारों का गीत व संगीत से सम्बन्ध आदिम युग से ही बना हुआ है। आदिम युग के लोक गीतों की विवेचना करते हुए हम पाते हैं कि जब सामाजिक चेतना अपनी प्रारम्भिक काल में थी और विकासमान समाज ने वातावरण के साथ संघर्ष में पृथ्वी में अपने अस्तित्व के साथ अनुकूलता स्थापित करने हेतु फसल उगाने की कला को जन्म दिया और उस फसल के प्रति उस कबीले के सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए भावनात्मक, सामाजिक एवं सामूहिक अभिव्यक्ति करने वाली कविता को जन्म दिया। निरन्तर संघर्ष के पश्चात पृथ्वी के कुछ अंगों पर मानव की विजय हो गयी और प्रकृति के प्रति आदिम युग की कविता में सहानुभूति की रेखायें उभरने लगी थी, परन्तु प्रकृति अभी सहचर्य के लिए तैयार नहीं थी। वह अपने प्रकोप से मानव के किये कराये को असहनीय क्षति पहुँचा रही थी। इसलिए नितान्त आवश्यक था कि प्रकृति पर विजय हासिल की जाय, इसलिए मानव की दृष्टि में सामूहिक जीवन का महत्व बढ़ता चला गया। सामूहिक को जागृत एवं प्रेरित करने वाले लोक गीत न केवल श्रम करने के लिए प्रेरणा देते थे बल्कि वे श्रम को मधुर भी बना देते थे। उस युग के लोक गीतों में मानव के प्रारम्भिक चेतना की अभिव्यक्ति, सामूहिकता, अनुराग, साहचर्य, परिश्रम, हर्ष-उल्लास, भय, शंका, शोषण और आशा-निराशा के भाव समाहित हैं। (भाकुनी, हीरा सिंह, 1988: 62)

प्राचीन काल से प्रत्येक जाति में अपने अनुभव और प्रथाओं को आने वाली पीढ़ियों को सौंपने की इच्छा रही है। उसे लोक साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति मिलती रही है। इस प्रकार लोक साहित्य विकासशील मानवता के प्राचीन संस्कारों, अनुभवों और भावनाओं का अवशेष तथा उसकी महत्वपूर्ण मंजिल है। (शुक्ल, केसरी नारायण, 1967: 19)

साधारण शब्दों में 'हुड़किया बौल' कृषि कार्य करने की एक पद्धति है। यह तीन शब्दों का मिला हुआ रूप है। 'बौल' का शाब्दिक अर्थ श्रम तथा 'हुड़का' लोक गाय है। हुड़का बजाकर गाने वाले लोक गायक को 'हुड़किया' कहा जाता है। अतः 'हुड़का'-'हुड़किया' और 'बौल' शब्द का मिला रूप 'हुड़किया बौल' है। हुड़के की थाप (आवाज) और रिदम के साथ आरोह-अवरोह की गायन शैली में एक ओर खड़ा होकर 'हुड़किया' दूसरी ओर 'होआर' (श्रम कर रही महिलायें) हुड़किया द्वारा गाये गये बौल गीतों को दोहराते हुए गाती हैं। इसी प्रक्रिया को 'हुड़किया बौल' कहा जाता है। विशेष कर धान की रोपाई, मुडुवा गोडाई या घास कटायी में 'हुड़किया

'बौल' लगाया जाता है। संगीत के लय और स्वरों के साथ गाते हुए हुड़किये का मुख्य उद्देश्य श्रमिक महिलाओं को एकजुट करना तथा शारीरिक मशक्कत या अन्य बातों की ओर ध्यान न होने देना होता है। उन सीढ़ीनुमा खेतों में संगीत व गीत के स्वर श्रम को मधुर बना देते हैं। (पाण्डे, त्रिलोचन 1979: 213-214)

आषाढ़ माह के प्रथम गते से रोपाई कार्य के साथ 'हुड़किया बौल' आरम्भ होता है। 'हुड़किया बौल' में भी 'जागर' की तरह प्रारम्भ में हुड़किया रोपाई करने वाले परिवार व श्रम कर रही महिलायें, पुरुष, बच्चे, जवान, बूढ़े आदि को आशीष वचन देता है तथा सभी देवी-देवताओं व विशेष रूप से भूमिया देवता को आमन्त्रित करता है, और रोपाई कार्य के सफल होने की कामना करता है 'हुड़किया बौल' के गीतों को सामान्य रूप से चार भागों में बाँटा जा सकता है— प्रार्थना, निमन्त्रण, कथामूलक तथा मंगल कामनापरक। इनमें से कथामूलक गीत पौराणिक, ऐतिहासिक एवं स्थानीय होते हैं। (भाकुनी, हीरा सिंह, 1988: 66)

कुमाऊँ की घाटियों में जहाँ रोपाई का कार्य होता है, उस क्षेत्र में खेत सीढ़ीनुमा ऊपर-नीचे न होकर समतल होते हैं और उनमें सिंचाई की सुविधा होती है जिन्हें 'सेरे' या 'सेरा' (खेत) कहते हैं। इन खेतों में प्राचीन काल से ही धान की खेती होती आयी है। वर्षा ऋतु के आरम्भ से कुछ समय पहले खेतों में धान बो दिये जाते हैं। जिन्हें प्रायः बड़ा होने पर 'सेरों' (खेतों) में रोपाई के लिए उखाड़ कर ले जाया जाता है। रोपाई आरम्भ करते समय स्त्री-पुरुष अलग-अलग कार्य को संभालते हैं। पानी की व्यवस्था करना, खेतों में मिट्टी को बराबर करना, धान के पौधों को एक खेत से दूसरे खेत तक पहुँचाना आदि कार्य को 'तोपाई' कहते हैं, जिसके उपरान्त रोपाई होती है। (पाण्डे, त्रिलोचन, 1979: 138)

रोपाई कार्य से पहले सभी स्त्री-पुरुषों व बैलों को टीका लगाया जाता है और लोक गायक हुड़किया को कुछ दक्षिणा भी दी जाती है। तत्पश्चात् रोपाई के कार्य का शुभारम्भ होता है। बड़े गाँवों की रोपाई में स्त्री-पुरुष दो-तीन टोलियाँ बना लेते हैं तथा छोटे गाँवों के सभी लोग मिलकर बारी-बारी से सब परिवारों की रोपाई करते हैं। रोपाई के दिन प्रातः 'हुड़किया बौल' के प्रारम्भ में लोक गायक कर्प्रथम सभी सार्वभौमिक एवं स्थानीय देवी-देवताओं को आमन्त्रित कर प्रार्थना करता है और रोपाई कार्य को सफल बनाने की कामना करता है जैसे— भूमिया, हरु, गोल्लू, कालिका, शिवजी, ब्रह्मा, विष्णु देवता आदि। खेतों में काम कर रहे हलिये और बैलों सहित सबकी रक्षा की कामना करता है। निमन्त्रण में देवताओं के अतिरिक्त परिवार, जाति, विरादरी, नाते-रिश्तेदारों को भी रोपाई कार्य सम्पन्न करने हेतु निमन्त्रण देता है। तत्पश्चात् वह कथामूलक गीत गाना आरम्भ करता है। इसमें जैसा ऊपर बताया जा चुका है कि पौराणिक, ऐतिहासिक एवं स्थानीय गीत गाये जाते हैं। संध्या काल को जब रोपाई समाप्त होती है तो गायक मंगल कामना करते हुए रोपाई से जुड़े हुए सभी लोगों को आर्शीवाद वचन देता है जैसे— हलिया, श्रम कर रही महिलायें, गोद का बालक (जिसकी माँ उसे दिनभर छोड़कर रोपाई कार्य में जुटी रहती है), बैल व पुरुष और सबकी दीर्घायु की कामना करता है और कहता है कि सम्पूर्ण उर्वरक

घाटियों की उर्वरता इन्हीं खेतों खलिहानों में आ जाय आदि।(पाण्डे, त्रिलोचन, 1979: 214-215)

'हुड़किया बौल' में उक्त प्रक्रिया के अतिरिक्त भी बहुत कुछ पाया जाता है जैसे कि उसके कथा गीतों में भड़ौ या वीर गाथा भी गाये जाते हैं। स्थानीय सामन्तों द्वारा बिना मजदूरी के 'बेगार' के रूप में सामूहिक श्रम को 'हुड़किया बौल' का नाम देकर भुनाये जाने की प्रक्रिया में भी ये भड़ौ गाये जाते हैं। इनके पीछे स्थानीय ग्रामीण सामन्तों की मनोवृत्ति स्पष्ट है कि वीर गाथा के प्रेरक जन नायकों का उत्साह विद्रोह में न बदले बल्कि सामन्ती व्यवस्था को बरकरार रखने में सहायक हो तथा समाज को बदलने या आगे ले जाने में उसकी भूमिका या उपयोगिता नगण्य रह सके। यदि ये भड़ौ एक सामान्य आदमी को उत्तेजित भी करें तो उसकी ऊर्जा धान की रोपाई या मङुवे की गोड़ाई में तिरोहित हो जाय, ताकि सामाजिक बदलाव के प्रति कोई पहल न हो सके। अतः हुड़किया बौल' स्थानीय सामन्तों द्वारा सामूहिक श्रम के रूप में 'बेगार' लेने का एक माध्यम भी है। (तेवाड़ी: गिरीश/पाठक: शेखर, 1978: 25-26 व भाकुनी : हीरा सिंह, 1988: 63)

अतः उक्त मौखिक परम्परायें कुमाऊँनी लोक साहित्य के महत्वपूर्ण बहुआयामी पक्ष हैं। जिसमें तत्कालीन स्थानीय भौगोलिक परिदृष्टि के साथ धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, पर्यावरणीय, आर्थिक, राजनीतिक, हर्ष, उल्लास, शोषण, प्रतिरोध, सामूहिकता, पशुचारक मान्यतायें, सामन्ती गठजोड़, हत्या, षड्यन्त्र आदि के साथ-साथ समूचे स्थानीय समाज के स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं। किस तरह सामान्य जन व लोक नायक आर्थिक रूप से उच्च वर्ग या स्थानीय सामन्तों पर निर्भर रहते हैं और कैसे जन नायकों की आपसी गठजोड़ व स्वार्थपरायणता के कारण हत्या कर दी जाती है, परन्तु उनके जन नायक के रूप में व्यक्तित्व का प्रभाव दबाने में असफल होकर उनकी पूजा करने को बाध्य होते हैं। जाति या वर्ग भेद के बल पर समाज को बाँटना या उसकी शक्ति क्षीण कर व्यक्ति को बाँटने सम्बन्धी सन्दर्भ भी देखने को मिलते हैं। लोक गीत व संगीत की प्रभावी अभिव्यक्ति से सामूहिक श्रम के नाम पर जनता से बेगार ली जाती थी। उक्त पक्षों के अतिरिक्त ये एक ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में भी पाये जाते हैं जो मुख्यतः स्थानीय इतिहास को उजागर करते हैं। उक्त मौखिक परम्पराओं में सामाजिक जीवन के साथ आर्थिक जीवन भी परिलक्षित होता है उक्त मौखिक परम्परायें इनसे जुड़े लोकगायकों का एक आर्थिक श्रोत भी थे जिन्हें नगद मजदूरी के साथ साल में अनाज भी दिया जाता था, जिससे वे लोग अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे परन्तु वर्तमान में परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं न इन परम्पराओं को उतने उत्साह से मनाया जाता है न ही लोक गायकों की इनके प्रति इतनी रुचि रह गयी है क्योंकि इनसे प्राप्त आमदनी से लोक गायक वर्तमान में अपना जीवन यापन नहीं कर सकते हैं। जिसका मुख्य कारण आर्थिक मूल्यों का बदलना है। इसके अतिरिक्त इस लोक गायक समुदाय को स्थानीय समाज का आर्थिक, सामाजिक संरक्षण भी प्राप्त था जो सामाजिक मैत्री का भी पक्ष था परन्तु यह सम्बन्ध वर्तमान में समाप्त हो चुके हैं।

हुड़किया बौल सरीखी परम्पराओं के लुप्त प्राय होने से कई पर्यावरणीय संकट भी उत्पन्न हुए हैं। इस क्षेत्र में चावल व खाद्यान्न फसलों की जैव विविधता उल्लेखनीय रही है। विगत वर्षों में इसमें तेजी से कमी आयी है। इसका सर्वाधिक प्रभाव चावल की विभिन्न प्रजातियों के लुप्त होने से हुआ है। पर्यावरणविद् व इतिहासकार प्रो० अजय रावत के अनुसार यह क्षेत्र जहाँ खाद्यान्नों की विविधता के लिए प्रसिद्ध था वहीं उत्तराखण्ड में वन्य प्रजाति के चावल की 30 किस्में, गेहूं की 15 व मक्के की मात्र 8 किस्में ही अवशेष हैं।

चावल (*Oryza sativa*) की लोकप्रिय खाद्य प्रजाति थापचीनी भी अब संकटापन्न हो गयी है। इसके अतिरिक्त मङुवा (*Elusine coracana*), झुंगरा (*Echinochloa frumentacea*), कौणी (*Setaria italica*), ज्वार (*Sorghum vulgare*), बाजरा (*Pennisetum americanum*), चौलाइ (*Amaranthus caudatus*), गहत (*Macrotyloma biflorum*), भट्ट (*Glycine max*), राजमा (*Phaseolus vulgaris*), उड़द (*Phaseolus mungo*), लोबिया (*Phaseolus lunatus*) जैसी महत्वपूर्ण खाद्य प्रजाति अब संकट के कगार पर हैं। जंगलों के कटने, पानी की कमी होने, खेतों के बंटवारे, कृषि भूमि में आवासीय भवन बनने से, थोकदारी, पधानचारी, सयाणे पद्धतियों के समाप्त होने से क्षेत्र की समृद्ध सांस्कृतिक विविधता और जैव-विविधता के लिए संकट उत्पन्न हो रहा है।

कारण

आज लोक परम्परा के लुप्त होने के अनेकों कारण मौजूद हैं। व्यक्ति तथा समाज अपने प्रारम्भिक संस्कृति का परित्याग कर भौतिकवादी संस्कृति को स्वीकार करने की ओर अग्रसरित है। आज के इस वैज्ञानिक युग में इस लोक जीवन का महत्व भी कम होते जा रहा है, क्योंकि लोक संस्कृति के प्रति व्यक्ति या समाज का विश्वास खत्म होते जा रहा है। यद्यपि परिवर्तन प्रकृति का नियम है परन्तु आज लोक संस्कृति को नष्ट कर उसके स्थान पर आधुनिक संस्कृति को स्थापित करने की प्रवृत्ति जन्म ले चुकी है।

कुमाऊँ के लोक साहित्य का आज निरन्तर लोप होते जा रहा है। स्थानीय परम्परा या मान्यता के आधार पर यद्यपि उसके महत्व की दुहाई दी जाती है परन्तु समाज की वह रुचि इनके प्रति नहीं दिखायी देती है, परिणामस्वरूप वह पतन की ओर अग्रसरित है। जिन लोक परम्पराओं को कभी बड़ी श्रद्धा व धूमधाम से आयोजित किया जाता था वह आज औपचारिकता मात्र रह गयी है। यद्यपि यह स्थिति कुमाऊँ में ही नहीं देश तथा विश्व के अन्य देशों में भी देखी जा सकती है।

लोक परम्परा के निरन्तर नष्ट या लुप्त होने के कुछ बिन्दु इस प्रकार हैं :-

- पर्यावरण से छेड़छाड़
- संसाधनों का अवैज्ञानिक विदोहन
- स्थानीय सामाजिक व आर्थिक मूल्यों का बदलना

- जनसंख्या वृद्धि की तुलना में संसाधन या रोजगार की कमी
- शिक्षा का विकास व उससे उत्पन्न चेतना या जाग्रति का प्रभाव
- आधुनिक (पाश्चात्य सभ्यता) संसाधनों के प्रति रुचि का बढ़ना
- लोक संस्कृति के प्रति रुचि का घटना
- सामाजिक व आर्थिक बदलाव के कारण लोक गायकों की संख्या में कमी व उनकी कल्पना शक्ति का घटना
- सामूहिकता का ह्वास
- व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का बढ़ना
- सरकारी या गैर सरकारी संस्थाओं की उदासीनता
- लोक संस्कृति के विकास हेतु कोई निश्चित कार्य योजना का न होना
- पलायन या प्रवास की प्रवृत्ति बढ़ना
- युवा वर्ग की उदासीनता
- लोक संस्कृति के प्रति जन-विश्वास में कमी आदि

लोक संस्कृति के लुप्त होने के कारणों के पीछे कुमाऊँनी ग्रामीण परिदृश्य का बदलना मुख्य है। प्रारम्भ में जिस कुमाऊँनी समाज का मुख्य व्यवसाय कृषि या पशुपालन था वह स्थितियाँ अब नहीं हैं। लोक संस्कृति सामूहिक जीवन की एक अभिव्यक्ति है परन्तु अब इस सामूहिकता को व्यक्तिवादी विचारधारा ने नष्ट कर दिया है। अर्थात् सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिवादी विचार लोक जीवन में प्रवेश कर चुका है। एक समय में यह लोक संस्कृति स्थानीय समाज के मनोरंजन का साधन भी थी परन्तु आज मनोरंजन के साधन भी समय के अनुसार बदल चुके हैं। इनका स्थान अब उपभोक्तावादी संस्कृति ने ले लिया है। इसलिए अब इस लोक संस्कृति की जरूरत भी महसूस नहीं की जाती है, की भी जाती हैं तो मात्र रस्म अदायगी के लिए। व्यक्तिवादी विचारधार के विकास के कारण अब दर्जनों लोकगायकों का साथ बैठना भी मुश्किल हो गया है। प्रारम्भ में इनके मिलने के उपयुक्त स्थान विभिन्न लोक उत्सवों को मनाने के होते थे परन्तु अब इन लोक उत्सवों के प्रति आधुनिक समाज की रुचि घटते जा रही है। जिस कारण लोक अभिव्यक्ति के अवसर भी कम होते जा रहे हैं।

कुमाऊँनी लोक संस्कृति से जुड़े लोक कलाकारों की प्रारम्भिक स्थिति भी परिस्थितियों के अनुसार बदल चुकी है। प्रारम्भ में रस्मानीय समाज की अपनी लोक संस्कृति के प्रति श्रद्धा, विश्वास और अभिरुचि थी। जिस कारण समय-समय पर लोक संस्कृति से जुड़े विभिन्न लोक उत्सवों को मनाया जाता था जिसमें लोक कलाकारों को अपनी अभिव्यक्ति प्रदर्शित करने के अवसर मिलते रहते थे जो उनका एक आर्थिक स्रोत भी था, परन्तु आज इस संस्कृति के प्रति स्थानीय समाज की अभिरुचि घटने के कारण व शिक्षा के विकास के साथ तमाम परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं। अब लोक कलाकारों को ऐसे अवसर कम मिलते हैं और युवा पीढ़ी इस व्यवसाय को अपनाने के लिए तैयार नहीं। जिस कारण इस कला व्यवसाय से जुड़े जो प्रारम्भिक परिवार थे उनकी अगली पीढ़ी इससे हटती जा रही है इसलिए वर्तमान में जो कलाकार जीवित हैं उनकी

स्थिति सामाजिक या आर्थिक रूप से निम्न है। उनको किसी सरकारी या गैर सरकारी संस्था की ओर से कोई आर्थिक मदद या प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। ये लोक कलाकार सीमित साधनों के बीच जीवन यापन कर रहे हैं। इसी कारण यह परम्परागत व्यवसाय अब उन्हीं तक सीमित रह गया है। आगामी सम्भावनाओं के बारे में इन कलाकारों की वर्तमान आर्थिक या सामाजिक स्थिति को देखते हुए लगता है कि इनके मृत्यु के साथ ही विभिन्न लोक घरानों की भी मृत्यु हो जायेगी। अन्ततः जो एक इतिहास के रूप में हमारे सामने रहेंगे।

निष्कर्ष

क्षेत्र में वनों का विनाश, भूक्षरण, जलस्राव में कमी, जनसंख्या में वृद्धि, अनियोजित और व्यवहारिक विकास, जल प्रबन्धन के प्रति उदासीनता, जागरूकता की कमी, निर्माण कार्यों में व्याप्त भ्रष्टाचार, यहाँ की विषम परिस्थितियाँ, नौलों, धारों पर हस्तक्षेप एवं नवीनीकरण होना, जल का स्थानान्तरण, भू-स्खलन, बढ़ती आबादी, नवीन भवन निर्माण कार्य, जलवायु में निरन्तर बदलाव, अपनी परम्पराओं का विस्मरण इत्यादि से परम्परा का ह्वास हो रहा है।

वर्तमान में “हुड़किया बौल” का परिवर्तित रूप हमारे सामने है जो एक तरह से परिवर्तन के साथ निरन्तर पतन की ओर भी अग्रसरित है जिसका मुख्य कारण जनसंख्या बढ़ोत्तरी के साथ जमीन का बंटवारा, परम्परा संरक्षण बीजों का समाप्त होना तो है ही साथ ही जो गांव में रह रहा है व खेती ही नहीं करना चाहता। सामूहिक कार्य परम्परा अब समाप्त होती जा रही है तथा लोगों का इस तरह की लोक परम्पराओं के प्रति संवेदनहीनता है या इस परम्परा से जुड़े लोक गायकों का लगाव समाप्त होना है क्योंकि वह लोक गायक इस परम्परा से जुड़कर अपने आजीविका के पर्याप्त साधन नहीं जुटा पाते हैं इसलिए इस लोक परम्परा से जुड़े परिवारों के नवयुवक आजीविका के नये साधन जुटाने की ओर प्रयासरत हैं अर्थात् वर्तमान में कुमाऊँ के पारम्परिक आर्थिक मूल्यों का स्वरूप बदलना भी इस सामूहिक कृषि श्रमोत्सव के पतन का एक मुख्य कारण है।

हमारे प्राचीन समाजों में संसाधनों के सदुपयोग को सबसे अधिक महत्व दिया जाता था। उनके प्रबन्धन की अनेक अनुकरणीय परम्परायें स्थापित की गई। इन परम्पराओं को जीवन-संरक्षणों में ढालने के लिए सीमा-रेखायें तय की गई और उनका अनुपालन पीढ़ी दर पीढ़ी होता रहा है। जब सरकारें नहीं थीं और राजशाही लोक कल्याण के कार्यों के प्रति बहुत चिन्तित नहीं होती थीं, तब समाज अपना प्रबन्धन स्वयं करते थे। गांवों-समाजों की व्यवस्था स्वयं होती थीं उनका कोई लिखित संविधान नहीं होता था। परिवारों में सामाजिक परम्पराओं की शिक्षा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती थी। जैसे बच्चे को चलना, बोलना, खाना, पहनना अथवा अन्य कार्य सिखाये जाते थे, उसी प्रकार उन्हें सामाजिक मर्यादाओं के पाठ वरिष्ठ परिजन पढ़ाते रहते थे और उनके अनुपालन की शिक्षायें देते थे। इस प्रकार वे लोगों के व्यवहारों-संस्कारों में शामिल होते जाते थे।

जल, जंगल, जमीन और परम्पराओं के संरक्षण की जो महान परम्परायें हैं, उनके मूल में ग्राम—समुदायों की उन पर अधिकार की भावना अन्तर्निहित है। जमीन अपनी है तो उसकी रक्षा के लिए उसका स्वामी जी—जान लगा देता है। इसी प्रकार अपने जल—स्रोतों और जंगलों के संरक्षण के लिए व्यक्तियों व समाजों के संरक्षण के लिए व्यक्तियों व समाजों ने अनेक संघर्ष किये हैं। कालान्तर में जब वे सरकारी हो गये और समाजों—पंचायतों को उनसे काट कर अलग कर दिया गया, तो वे अरक्षित हो गये। अब सरकार भी मानने लगी है कि बिना ग्रामीणों के इन संसाधनों का अस्तित्व बचा नहीं रह सकता, बढ़ने की बात तो दूर की है। अतीत में प्राकृतिक संसाधनों पर तकनीकी रूप से स्वामित्व भले ही राजा का था लेकिन व्यावहारिक रूप में अधिकार उपयोगकर्ताओं के पास थे। विकेन्द्रीकृत व्यवस्था के अन्तर्गत स्थानीय समुदाय उनका उपयोग व प्रबन्धन स्वतंत्रतापूर्वक कर सकते थे। संसाधनों के उपयोग और प्रबन्धन के लिए औपचारिक कानून नहीं थे, उनका नियमन स्थानीय रीति—रिवाजों से होता था। वर्तमान कानूनी ढांचा औपनिवेशिक सत्ता की देन है जिसमें इन रीति—रिवाजों और परम्पराओं को समुचित महत्व नहीं दिया गया है।

आधुनिकता की दौड़ के साथ निरन्तर जो परिवर्तन मौखिक परम्परा व उससे जुड़ी लोक संस्कृति में आ रहे हैं उसमें धीरे—धीरे एक जन चेतना भी विकसित हो रही है जो अपनी जड़ों, संस्कारों, मान्यताओं, परम्पराओं को कैसे जीवित रखा जा सकता है सोचने लगी है। परिवर्तन प्रकृति की नियति है। वर्तमान में जो चेतना इस मौखिक संस्कृति के संवर्द्धन के लिए विकसित हो रही है ये कि वर्तमान आधुनिक सभ्यता के बीच किस रूप में इसको बनाये रखा जा सकता है इस ओर एक बौद्धिक सोच विकसित हो रही है। बुद्धिजीवी वर्ग व लोक कलाकार ही इसके संवर्द्धन के उपाय ढूँढ़ सकते हैं ताकि आधुनिकता की दौड़ के मध्य समाज अपने अतीत को भी संभालते हुए आगे बढ़ सके। साथ ही आवश्यक है कि राज्य द्वारा लोक संस्कृति संस्थान स्थापित किया जाय तथा लोक सांस्कृतिक कोष स्थापित किया जाय जिससे लोक गायकों को प्रोत्साहित किया जाय। यह भी ध्यान रहे कि लोक गायकों की कीमत पर अपने को स्थापित करने की प्रवृत्ति इस प्रक्रिया में न हो। इन सभी पक्षों को राज्य में लागू किया जाय तो लोक परम्परा विशेष रूप से ‘हुड़किया बौल’ के संरक्षण में यह एक मील का पत्थर साबित हो सकता है।

साक्षात्कार

श्री लछराम: ग्राम: बिन्ता : पो0 बिन्ता (अल्मोड़ा)।

श्री दौल राम: ग्राम: बमनगाँव पो0 महाकालेश्वर (अल्मोड़ा)

श्री पूरन राम: ग्राम गुरुड़ा :पो0 चनौदा (अल्मोड़ा)

श्री राजेन्द्र कुमार: ग्राम: बिमौला: पो0 गरुड़ (बागेश्वर)

श्री रामी राम: ग्राम: बुडलगाँव: पो0 भड़कटिया (पिथौरागढ़)

श्री भुवन चन्द्र दास: ग्राम: कोटिला: द्वाराहाट (अल्मोड़ा)

श्री सुरेश चन्द्र पाण्डे: ग्राम: कफोली: पो0 हरसिला (बागेश्वर)

श्री दीवान राम: ग्राम: खीराकोट: पो0: चनौदा (अल्मोड़ा)

सन्दर्भ

अग्रवाल, अनिल, सुनीता नारायण (1998) बूदंदों की संस्कृति: अजीत सिंह, यू.सी. पाण्डे, नई दिल्ली, उत्तर प्रदेश सेण्टर फार साइंस एण्ड इंवार्नमेंट

अग्रवाल, महावीर (1989) लोक संस्कृति : आयाम एवं परिप्रेक्ष्य, दुर्ग, शंकर प्रकाशन

एटकिंसन, एडविन टी. (1998) हिमालयन गजेटियर ग्रन्थ—3 भाग—1, हिन्दी अनुवाद, चमोली, उत्तराखण्ड प्रकाशन, हिमालय संचेतना संस्थान

डबराल, शिव प्रसाद (संवत 2044) उत्तराखण्ड का इतिहास (कुमाऊँ का इतिहास), गढ़वाल, वीरगाथा प्रकाशन

डबराल, शिव प्रसाद (संवत 2051) कर्तूरी राजवंश उत्थान एवं समापन, दोगड़ा, गढ़वाल, वीरगाथा प्रकाशन

तेवाड़ी गिरीश, और शेखर पाठक (1978 शेखर: हमारी कविता के आँखर, अल्मोड़ा, अल्मोड़ा बुक डिपो

पाण्डे, बद्री दत्त (1990) कुमाऊँ का इतिहास, श्याम प्रकाशन, अल्मोड़ा, अल्मोड़ा बुक डिपो

पाण्डे, त्रिलोचन (1977) कुमाऊँनी भाषा और उसका साहित्य, लखनऊ, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

पाण्डे, जनक (सं.) (2002) सोशल डेवलपमेण्ट, इन उपाधाय आशुतोष: पूरन बिष्ट एवं गिरिजा पांडे: उत्तराखण्ड में जल प्रबन्ध, नई दिल्ली, ए.पी.एच. पब्लिशिंग कार्पोरेशन

भाकुनी, हीरा सिंह (1988) कुमाऊँ की लोक काव्य परम्परायें जागर और हुड़किया बौल, (अप्रकाशित)

रावत, अजय (1999) फौरेस्टी इन कुमाऊँ हिमालया, नई दिल्ली, प्रकाशन इण्डस पब्लिकेशन

वैष्णव, यमुना दत्त (1977) कुमाऊँ का इतिहास, नैनीताल, मॉर्डन बुक डिपो

वैष्णव, यमुना दत्त अशोक (1994 संस्कृति संगम उत्तरांचल (कुमाऊँ—गढ़वाल की लोक संस्कृति और पर्वतीय भाषा के उद्भव और विकास का इतिहास) आगरा, रंजन प्रकाशन